

प्रोफेसर शिरीन की याद में

रश्मि पालीवाल

प्रोफेसर शिरीन रत्नागर ने हमें जो सबक दिए, वे आज भी अक्सर याद आते हैं। हमारी स्थापित मान्यताओं को लेकर उन्होंने हमारे मन में ऐसी दुविधाएँ पैदा कीं कि हम दशकों तक उनसे जूझते रहे।

सामाजिक विज्ञान के स्कूली पाठ्यक्रम को कल्पित करने के काम की एक भ्रूणीय दुविधा थी - छात्र को ज़रूरी जानकारी देना या छात्र को जानकारी निर्मित करने देना - इनमें से कौन-से रास्ते को अपनाकर कक्षा में तर्क, विचार और ज्ञान-निर्माण के मौके बनाए जाने चाहिए। हमारे सबसे पहले दस्तावेज़ *अ बैकग्राउण्ड पेपर ऑन द टीचिंग ऑफ सोशल साइंसेज़ (1983)* में शिरीन के लिखे दो नमूने परिशिष्ट में शामिल हुए, और टक्कर में परिशिष्ट में शामिल था *बाल वैज्ञानिक* कार्य-पुस्तक का कक्षा-8 का एक पाठ। बैकग्राउण्ड पेपर में दोनों तरीकों की समीक्षा करते हुए खुलापन बनाए रखने का स्वर था, तो साफ तौर से आग्रह का जोर विज्ञान वाले नमूने की ओर ही दिखता था। शिरीन के नमूने राजा अशोक के शिलालेख और नवदाटोली के उत्खनन की जानकारी को आधार बना रहे थे - जानकारी देने के साथ-साथ छात्रों

को उस पर विचार, तर्क, अनुमान की क्रियाएँ करते हुए अतीत को उजागर करने में स्रोत की सीमाओं के प्रति सचेत बनने का अवसर दे रहे थे। हमारे सामने सवाल यह खड़ा था कि चाहे शुरुआत में ये नमूने उचित न ठहरें और छात्रों को अपने परिवार, गाँव-शहर की जानकारी खुद बटोरकर उस पर विचार करने का रास्ता उचित हो, लेकिन, देर-सवेर जानकारी देने की ज़रूरत तो होगी ही। इसलिए, वह कैसे दी जाए और उसका उपयोग किस शैक्षिक उद्देश्य के लिए किया जाए, यह खोजना क्या नितान्त ज़रूरी नहीं हो जाता है?

इस भ्रूण से शुरु करके हमने जो पाठ्यक्रम बनाया, उसका 25 वर्षों बाद एक व्यापक दस्तावेज़ तैयार हुआ - *सोशल साइंस लर्निंग इन स्कूल्स: पर्सपेक्टिव्स एण्ड चैलेंजेज़ - (2010)*। इसमें हमने शिरीन का नए पाठ्यक्रम की कल्पना का प्रारम्भिक योगदान रेखांकित किया और अपने वे अनुभव और विचार स्वीकार किए जिनके चलते हम उनके सुझाव से हटकर राह बनाने को आगे बढ़े थे। उनकी दी हुई चेतावनी हमने फिर से स्वीकार की, दर्ज की। वह भ्रूणीय दुविधा हमारे कर्म का अभिन्न अंग

है - अगर आप लोग सचेत या अचेत रूप से मास्टर्स लेवल के 'एंशिएण्ट सोसाइटीज़' और 'फ्यूडलिज़्म' जैसे कोर्सों को स्कूली पाठ्यक्रम में तब्दील करने की कोशिश कर रहे हैं तो आप खतरा मोल ले रहे हैं। इस पर हमारा जवाब, हमारा स्पष्टीकरण हमने लिखा (पेज 54-55)।

ऐसी ही एक और दुविधा थी, हिन्दी भाषा के रूप को लेकर। अकादमिक विमर्श की बातों को शिक्षकों के लिए लिखने की हिन्दी कैसी होनी चाहिए... बोलचाल की, सरल, आम शब्दों वाली हिन्दी ही क्यों उनके लिए उपयुक्त समझी जानी चाहिए... क्या इस हिन्दी में अकादमिक विमर्श की विशेषता, सटीकता, कठोरता प्रस्तुत हो पाती है... क्या शिक्षकों को उससे जुड़ने का अवसर नहीं मिलना चाहिए...? यह दुविधा शिरीन ने हमारे सामने बड़े सशक्त रूप में खड़ी की थी।

हमें अपनी सहज, सरल हिन्दी में कठिन बातें व्यक्त करने की क्षमता पर अचूक भरोसा हो चला था। वे

शिक्षकों के लिए भारतीय इतिहास के स्रोतों पर जो लेख लिख रही थीं, वे शुरू में अँग्रेज़ी में थे और हम उनका सरल हिन्दी में अनुवाद करके उनको दिखा रहे थे। जब उन्होंने पाया कि हम परिपक्व, विशिष्ट और सटीक हिन्दी की शब्दावली से सायास बच रहे हैं और उसके प्रति दुराग्रही हैं, तो उन्होंने हमारे हाथ से यह काम ही ले लिया! उन्होंने खुद हिन्दी सीखी और अपने निबन्ध हिन्दी में लिखे। हमें जो शॉक लगा था, उसका कम्पन आज भी महसूस होता है। और आज, कम-से-कम मैं तो समाज विज्ञान के अकादमिक लेखों के हिन्दी अनुवादों को जब जाँचती हूँ, तो उनकी शब्दावली और वाक्य रचना को धड़ल्ले से आम बोलचाल का बनाने से अपने-आप को रोकती हूँ। बहुत सोचकर ही विकल्प बनाती हूँ। मेरी यह लगातार की सचेतावस्था, शिरीन की देन है।

शिरीन को तहेदिल से श्रद्धांजलि... आशा है, उनको स्वीकार होगी।

रश्मि पालीवाल: 1983 से *एकलव्य* के साथ काम कर रही हैं। वे *एकलव्य* की सामाजिक विज्ञान टीम की सदस्य रही हैं जिसने मिडिल स्कूल के लिए नया पाठ्यक्रम विकसित किया। उन्होंने *एकलव्य* के फील्ड स्तर के कार्यक्रमों तथा प्रकाशन के कामों में भी योगदान दिया है। वे कई राज्यों के अलावा राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यपुस्तक विकास और शिक्षक विकास के प्रयासों में शामिल रही हैं। उन्हें बच्चों के साथ कहानियाँ पढ़ना और उनकी बातों पर गौर करना बहुत पसन्द है।